आइन्स्टीन के सामाजिक सरोकार

अनुक्रम :

उग्रपरिवर्तनवादी अल्बर्ट आइन्स्टीन

-जॉन जे. सिमोन

समाजवाद ही क्यों?

-अल्बर्ट आइन्स्टीन

गार्गी प्रकाशन

वर्ष 2005 महान वैज्ञानिक आइन्सटीन की मृत्यु की 50वीं बरसी थी और साथ ही उनके युगान्तरकारी शोध पत्रों के प्रकाशन की शतवार्षिकी भी। सौ साल पहले प्रकाशित शोध पत्रों और उनकी निरन्तरता में विकसित वैज्ञानिक सिद्धान्तों की एक पूरी शृंखला के जरिये आइन्सटीन ने दिक्, काल, पदार्थ और गुरुत्वाकर्षण से सम्बन्धित पुरानी अवधरणाओं और चिंतन प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। निश्चय ही, भौतिक जगत से सम्बन्धित इस नये दृष्टिकोण ने सामाजिक दर्शन को भी गहराई से प्रभावित किया।

20वीं सदी के इस महानतम वैज्ञानिक की स्मृति में गार्गी पुस्तिका शृंखला के तहत हम यहाँ दो लेखों का प्रकाशन कर रहे हैं जो 'मंथली रिव्यू' पत्रिका से आभार सहित उद्धृत हैं। पहला लेख आइन्सटीन के जीवन के सामाजिक-राजनीतिक सरोकारों से सम्बन्धित है। अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए विश्व-विख्यात और सर्वज्ञात होने के बावजूद आज की पीढ़ी के अधिकांश सुशिक्षित लोगों को भी आइन्सटीन के सामाजिक-राजनीतिक जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी है। इस तथ्य पर परदा पड़ा हुआ है कि एक महान वैज्ञानिक होने के साथ-साथ आइन्सटीन के गहरे सामाजिक सरोकार भी थे तथा अपने समकालीन अन्यायपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ, समाजिक न्याय और मानवाधिकारों के लिए वे जीवन भर संघर्षरत रहे। इस लेख में आइन्सटीन के राजनीतिक जीवन की जीवन्त झांकी प्रस्तुत की गयी है।

दूसरा लेख ''समाजवाद ही क्यों?'' खुद आइन्सटीन की रचना है जिसमें उन्होंने पूँजीवाद के विकल्प के रूप में न्याय और समानता पर आधारित समाजवादी व्यवस्था का पुरजोर समर्थन किया है।

इस पुस्तिका की विषयवस्तु और कलेवर के बारे में पाठकों के सुझाव और उनकी आलोचनाएं इस शृंखला को बेहतर बनाने में सहायक होंगी।

गार्गी प्रकाशन

उग्र परिवर्तनवादी अल्बर्ट आइन्सटीन

एक राजनीतिक रेखाचित्र

-जॉन जे. सिमोन

2005 की खासियत यह है कि इस साल आइन्सटीन की 50वीं बरसी है और उनके पाँच प्रमुख वैज्ञानिक आलेखों के प्रकाशन की शतवार्षिकी भी, जिन्होंने भौतिक शास्त्र के अध्ययन का कायापलट कर दिया। आइन्सटीन की अन्तर्दृष्टि इतनी क्रान्तिकारी थी कि उन्होंने न सिर्फ प्रकृति विज्ञान के स्थापित सिद्धान्तों को चुनौती दी बल्कि दुनिया को देखने-समझने के जनसाधारण के नजरिये को भी बदल डाला। 1920 तक उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापक ख्याति प्राप्त कर ली थी। उस जमाने में विश्व-विख्यात होना कोई साधारण बात नहीं थी, जब लब्ध प्रतिष्ठित लोगों के गुणगान से भरपूर आजकल के समाचार-पत्रिकाओं और केबिल टी वी न्यूज चैनलों का ऐसा उभार नहीं हुआ था। प्रचलित अखबारों को दिये गये उनके साक्षात्कारों के साथ-साथ उनके गहन वैज्ञानिक आलेख भी मुखपृष्ठ की खबरों और समाचार-फिल्मों के लिए अच्छा खुराक बन गये थे। लेकिन फिर भी, एक मुखर परिवर्तनकामी के रूप में अपने समय के राजनीतिक जीवन में उनकी भागीदारी पर कोई गम्भीर चर्चा नदारद थी। उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित रेखाचित्रों और जीवनियों में तो खास तौर पर इसे देखा जा सकता है।

अल्बर्ट आइन्सटीन का जन्म 14 मार्च, 1879 को जर्मनी के एक उदारवादी, धर्म-निरपेक्ष एवं लघु उद्यमी यहूदी परिवार में हुआ था। नौजवान अर्ल्बट का बचपन और प्रारम्भिक बाल्यावस्था सामान्य जनों की तरह ही थी। 19वीं सदी के अन्त में जन्मे बहुत सारे नौजवानों की तरह वे भी जिज्ञासु थे, डार्विन को पढ़ते थे, पदार्थ यानि प्राकृतिक जगत में उनकी गहरी दिलचस्पी थी और ''प्रकृति की रहस्यमयता'' को पूर्ण रूप से समझने की इच्छा रखते थे ताकि 'नियम के भीतर के नियम' को जान सकें।

1895 में 16 साल की आयु में आइन्सटीन जर्मनी की नागरिकता का परित्याग कर स्विटजरलैण्ड चले गये। इसका मुख्य कारण था सेना की नौकरी से दूर रहना और

ज़ूरिच पॉलिटेक्नीक में अपनी शिक्षा पूरी करना। यहूदी और अरब-विरोधी विचारों से ग्रसित जर्मन और ऑस्ट्रियाई विश्वविद्यालयों की तुलना में यहाँ के अपेक्षाकृत मुक्त वातावरण में अन्ततः उन्होंने पी॰ एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त कर ली। लेकिन ज़ूरिच में पढ़ने के उन्हें और भी फायदे हुए। आइन्सटीन ने अपना बहुत सा समय ओडियन कैफे में बिताया जो रूसी क्रान्तिकारियों का अड्डा हुआ करता था और जहाँ पहले अलेक्सान्द्र कोलन्ताई और लियोन ट्राटस्की तथा कुछ सालों के बाद लेनिन भी आते-जाते थे। आइन्सटीन ने खुद इस बात को स्वीकार किया था कि वे अपना ज्यादातर समय ओडियन में ही बिताना पसंद करते थे, यहाँ तक कि कॉफी हाउस में चलने वाली उत्तेजक राजनीतिक बहसों में भाग लेने के लिये वे अपनी क्लास भी छोड़ दिया करते थे।

अकादमिक नौकरी पाने में असफल रहने के बाद आइन्सटीन 1902 में बर्न में स्विस पेटेण्ट कार्यालय में काम करने चले गये। यहीं पर 1905 में अपनी प्रतिभा को उद्घाटित करते हुए उन्होंने सापेक्षिकता का विशिष्ट सिद्धान्त क्वाण्टम यान्त्रिकी और ब्राउनियन गति के बारे में अपने आलेख प्रकाशित करवाये । 1914 में उन्हें बर्लिन विश्वविद्यालय में पूर्ण प्रोफेसरशिप का प्रस्ताव मिला जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। आइन्सटीन फाइल के लेखक, फ्रेड जेरोम के मुताबिक यह प्रस्ताव सम्भवतः ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के विश्वविद्यालयों के बीच चल रही जबरदस्त होड़ का परिणाम था जिसका मकसद अपनी-अपनी सरकार के साम्राज्यावादी मंसूबों को उकसावा देने के लिए वैज्ञानिक और तकनीकी प्रतिभा की तलाश करना था। दुर्भाग्यवश आइन्सटीन ने ठीक उसी समय अपना पद सम्भाला जब प्रथम विश्वयुद्ध भड़क उठा था जिसमें जर्मनी मुख्य युद्ध कर्ताओं में से एक था।

आइन्सटीन ने युद्ध का विरोध किया। इसके चलते जर्मन सामाजिक जनवादियों से उनके रिश्ते खराब हो गये जिनसे पहले वे सहानुभूति रखते थे। उन लोगों के बजाय उन्होंने पार्टी के अल्पमत का पक्ष लिया जो इस युद्ध को युद्धरत शासक वर्गों के बीच के झगड़े के रूप में देखता था। इस बात पर आइन्सटीन के अपने अधिकांश वैज्ञानिक सहयोगियों से भी मतभेद हो गये। आइन्सटीन के लगभग समकक्ष भौतिक शास्त्री मैक्स प्लांक और करीब सौ दूसरे वैज्ञानिकों ने एक अंधराष्ट्रवादी ''सभ्य विश्व के लिए घोषणापत्र'' पर हस्ताक्षर किये जिसमें उस युद्ध को ''रूसी गिरोहों'', ''मंगोलों'' और ''नीग्रो'' लोगों द्वारा ''गोरी नस्ल के खिलाफ छेड़े गये युद्ध'' के विरुद्ध एक न्याय संगत प्रतिरोध युद्ध के रूप में जायज ठहराया गया था। जर्मनी के युद्ध-उद्देश्यों का समर्थन करने वाली उस घोषणा पत्र की भाषा, एक पीढ़ी बाद के नाजी शब्दाडंबर का आदि रूप थी। आइन्सटीन और तीन दूसरे लोगों ने एक दस्तावेज में इसका जवाब दिया जिसमें वैज्ञानिकों के (अफसोस की उनमें बहुत से कलाकार और लेखक भी

शामिल थे) इस व्यवहार को शर्मनाक बताया गया था। तत्कालीन सरकार ने इस दस्तावेज को दबा दिया । हस्ताक्षर करने वालों में से कम से कम एक व्यक्ति को जेल हुई थी। आइन्सटीन को कैद नहीं किया गया था। अपनी सद्यः प्राप्त ख्याति की ताकत का यह पहला दृष्टान्त था जिसने उनकी सिर्फ रक्षा ही नहीं की बल्कि उन्हें विरोध में आवाज भी उठाने दी, जबकि दूसरों को बोलने की इजाजत नहीं थी।

युद्ध के उथल-पुथल भरे दिनों में भी आइन्सटीन लगातार उसके विरोध में बोलते रहे। प्रसिद्ध है कि जिस दिन कैसर विल्हेम को गद्दी से उतारा गया–एक पखवाड़े के भीतर न सिर्फ युद्ध-विराम हो गया बल्कि सात अन्य यूरोपीय राजतंत्रों का भी पतन हो गया और उनकी जगह तात्कालिक तौर पर उदारवादी और समाजवादी सत्ताएं कायम हुईं। इस मौके पर आइन्सटीन ने अपनी क्लास के दरवाजे पर एक पोस्टर चिपकाया था जिसपर लिखा था, ''क्लास रद्द–क्रान्ति''। युद्ध के दौरान वे युद्ध-विरोधी उदारवादी और परिवर्तनकामी छात्रों और सहकर्मियों के साथ रहे और उनका पक्ष-पोषण किया तथा युद्ध के बाद पनप रहे भयानक सैन्यवाद, जो तेजी से नाजीवाद में बदलने वाला था, के खिलाफ प्रतिरोध आन्दोलन में वे फिर उनके साथ हो गये।

अपनी साफगोई के कारण आइन्सटीन फिर से सर उठा रही यहूदी-विरोधी जहरीली विचारधारा का निशाना बने। दक्षिणपंथी राजनीतिज्ञों ने ही नहीं बल्कि उनके सहकर्मी जर्मन वैज्ञानिकों ने भी सापेक्षिकता पर उनके काम की ''यहूदी विकृति'' कहकर भर्त्सना करनी शुरू कर दी। अब तक आइन्सटीन एक अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति बन चुके थे। 1921 में प्रकाश विद्युत प्रभाव पर उनके काम के लिए, जो प्रकाश की क्वाण्टम प्रकृति को दर्शाता था, उन्हें भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला। वाईमर गणराज्य के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी उन्होंने अपनी प्रत्यक्ष उपस्थिति दर्ज करवायी। इसी दौरान वे राजनीतिक विचारों में और अधिक मुखर होते गये।

1920 के दशक में जर्मनी में तेजी से बढ़ती उद्धत राष्ट्रवादी और नस्लवादी हिंसा तथा उग्र-राष्ट्रवाद का विरोध करने के लिए उन्होंने यूरोप को एकजुट करने की दिशा में काम किया और बढ़ती यहूदी-विरोधी हिंसा से यहूदियों को बचाने में लगे संगठनों का समर्थन किया। उनमें समानता की गहरी भावना थी–बढ़ती हुई फीसें जब गरीब छात्रों के लिए बर्दाश्त के बाहर हो गयीं तो आइन्सटीन ने उसका मुकाबला करते हुए अक्सर कॉलेज के बाद भौतिक शास्त्र की मुफ्त शिक्षा के लिये क्लासें लगायीं। जैसे-जैसे यूरोप का आर्थिक-राजनीतिक संकट और ज्यादा गहराता गया, आइन्सटीन राजनीतिक सवालों को उठाने के लिए वैज्ञानिक सम्मेलनों के मंचों का अधिकाधिक इस्तेमाल करने लगे। जेरोम के मुताबिक, ''सुबह विश्वविद्यालय में अपने व्याख्यान के दौरान सापेक्षिकता पर बहस करने और उसी दिन शाम को नौजवानों को इस बात के लिए प्रेरित करने में कि वे सैनिक सेवा में जाने से इनकार कर दें–उन्हें कोई

दिक्कत नहीं थी।''

1930तक हिटलर की राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी जर्मनी में एक प्रभुत्वशाली राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरने लगी थी। हालाँकि आइनस्टीन अपने देश में अभी भी मुखर थे, लेकिन साथ ही वे अपनी वैज्ञानिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति की आजादी के लिए विदेश जाने के अनुकूल अवसर की तलाश भी करने लगे थे। उन्होंने ब्रिटेन, नीदरलैण्ड और यूरोप के अन्य स्थानों पर अपने व्याख्यान दिये। 1930 के बाद से वे हर साल कैलीफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी में अतिथि प्रोफेसर के रूप में जाने लगे। 30 जनवीर 1933 को सत्ता पर कब्जा करते ही नाजियों ने आइन्सटीन की सम्पत्ति पर जब्त कर ली। मई में, हिटलर के प्रचार मंत्री गोयबेल्स ने किताबों को सार्वजनिक रूप से जलाने का अभियान लिया जिसमें ऐसी किताबों को खास तौर पर जलाया गया, जिनमें आइनस्टीन की रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। इस नृशंसता की तस्वीरें पूरी दुनिया में छपीं। नाजी अखबारों में उनकी हत्या के लिए बड़े इनाम की घोषणा कर दी गयी। नतीजतन आइन्सटीन को नीदरलैण्ड में व्याखान देने के लिये की गयी अपनी यात्रा के दौरान अंगरक्षकों का सहारा लेना पड़ा। उसी जाड़े में अपने कालतेक प्रवास के दौरान आइन्सटीन और उनके परिवार ने बर्लिन न लौटने का फैसला किया।इसके बजाय उन्होंने न्यूजर्सी के प्रिंसटन शहर में स्थित 'इन्स्टीट्यूट फॉर एडवांस्ड स्टडीज' की ओर से मिले एक आजीवन नियुक्ति के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और 'मर्सर स्ट्रीट'पर एक साधारण से घर में रहने लगे।

वहाँ, अपने उस नये देश के अनुरूप खुद को ढालने की कोशिश करते हुए धुन के पक्के आइन्सटीन ने एकीकृत क्षेत्र-सिद्धान्त (यूनिफाइड फील्ड थ्योरी) पर काम शुरू किया जो यह दिखाने का प्रयास था कि विद्युतचुम्बकत्व और गुरुत्वाकर्षण एक ही बुनियादी परिघटना की दो भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। यही विषय उनके बाकी जीवन के लिए एक प्रमुख वैज्ञानिक सरोकार बना रहा और आज भी समकालीन भौतिकी और खगोल-शास्त्र को अनुप्राणित कर रहा है।

1940 में अमरीकी नागरिकता मिलने के कई साल पहले आइन्सटीन के मुख्य राजनीतिक सरोकार यहुदी विरोधी लूटमार और फासिज्म के उभार पर केन्द्रित थे। एक बार फिर अपनी ख्याति का इस्तेमाल करते हुए उन्होंने कोर्ट में यह याचिका दायर की कि शरणार्थियों को अमरीका में आ कर बसने दिया जाय, लेकिन यह कोशिश बेकार गयी। उसके बाद यूरोप के दूसरे बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर उन्होंने एलीनोर रूजवेल्ट से आग्रह किया कि वह अपने पति को हस्तक्षेप करने के लिए कहें, लेकिन नतीजा वही रहा। अमरीकी शासन के साथ यह आइन्सटीन का कोई पहला टकराव नहीं था। उन्होंने स्पेन के गृहयुद्ध में फ्रांको विरोधी ताकतों का जोरदार तरीके से और खुले आम समर्थन किया। जब नाजी बमवर्षकों ने स्पेन के गाँवों पर बमबारी की तो

फ्रांस और ब्रिटेन के साथ-साथ अमरीका ने भी ''तटस्थता'' का ढ़ोंग करते हुए स्पेन की नाकेबन्दी कर दी और इस तरह गणराज्य के लिए लड़ रहे सैनिकों को युद्ध-सामग्री देने से इन्कार कर दिया। संगठित विरोध प्रदर्शनों ओर अपीलों के बावजूद, जिनसे आइन्सटीन का नाम भी जुड़ा हुआ था, नाकेबन्दी कभी नहीं हटायी गयी और स्पेन पर थोपी गयी फासीवादी सत्ता (युद्धोत्तर कालीन अमरीकी सहायता की मदद से) करीब चार दशकों तक कायम रही। अब्राहम लिंकन ब्रिगेड के 3000 अमरीकी स्वयंसेवकों ने अपनी सरकार की अवज्ञा करते हुए स्पेन के गणतंत्र समर्थकों के साथ मिल कर लड़ाई लड़ी। आइन्सटीन शुरू से ही उनके उत्साही समर्थक थे।

1939 में आइन्सटीन ने नाजियों द्वारा निष्कासित एक शरणार्थी मित्र और भौतिकशास्त्री, लियो जिलार्ड के अनुरोध पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट को यह चेतावनी देते हुए पत्र लिखा कि जर्मनी नाभिकीय शोध में आगे जा रहा है और इस बात के आसार हैं कि वह जल्दी ही परमाणु हथियार विकसित कर सकता है। इस पत्र के मिलने के बाद अमरीका में ऐसा बम बनाने के प्रयास होने लगे। यह आइन्सटीन की सबसे यादगार सार्वजतिक कार्रवाई थी। फिर भी, अपने उग्र परिवर्तनवादी विचारों और खुद अपनी अरुचि के कारण आइन्सटीन मेनहट्टन परियोजना से दूर ही रहे।

विश्वयुद्ध के बाद आइन्सटीन ने हिरोशिमा ओर नागासाकी के विध्वंस के खिलाफ आवाज उठायी। फ्रेड जेरोम, लंदन के 'संडे एक्सप्रेस' समाचार पत्र को 1946 में दिये गये एक साक्षात्कार का जिक्र करते हैं जिसमें आइन्सटीन ने ''जापान पर की गयी बमबारी के लिए (राष्ट्रपति) ट्रूमैन की सोवियत विरोधी विदेश नीति को दोषी माना था।'' और यह विचार व्यक्त किया था कि ''यदि अमरीका ने युद्ध झेला होता तो हिरोशिमा पर कभी बम नहीं गिराये गये होते।'' जेरोम उल्लेख करते हैं कि यह साक्षात्कार तुरन्त ही आइन्सटीन की मोटी होती एफ॰ बी॰ आई॰ फाइल में नत्थी कर दिया गया था।

युद्ध के बाद के कुछ वर्षों में अमरीका के अन्तरराष्ट्रीयऔर घरेलू मंसूबों की खातिर समर्थन जुटाने के लिए सरकार और व्यावसायिक घेरे में छल-प्रपंच द्वारा फैलायी गयी एक कम्युनिस्ट विरोधी सबक का बोलबाला रहा। मई 1945 में जर्मनी की पराजय और अगस्त में हिरोशिमा पर बमबारी के बीच के महीनों में मेनहट्टन परियोजना के जिन वैज्ञानिकों के बीच बम के इस्तेमाल को लेकर बहस चली थी, वे बम से जुड़े हुए मुद्दों से अच्छी तरह वाकिफ थे। उनमें से बहुतेरे लोग अमरीका और सोवियत संघ के बीच नाभिकीय हथियारों की होड़ को लकर भयभीत थे। इस सम्भावना के खिलाफ एकजुट होने के लिए उन्होंने 'परमाणु वैज्ञानिकों की आपात्कालीन समिति (ई सी ए एस) का गठन किया जिसकी अध्यक्षता करने के लिए आइन्सटीन तैयार हो गये। अपनी इस भूमिका में आइन्सटीन ने सबसे पहले

अमरीकी विदेश मंत्री जार्ज सी मार्शल से मिलकर अमरीकी ताकत के सैन्यवादी विस्तार के बारे में विचार विमर्श करने का प्रयास किया। इस पर उन्हें झिड़क दिया गया, लेकिन परमाणु ऊर्जा आयोग के एक मध्य-स्तर के अधिकारी के साथ एक साक्षात्कार में उन्होंने ट्रूमैन की विदेश नीति को 'सोवियत विरोधी विस्तारवाद' बताया–अमरीका के साम्राज्यावादी मंसूबों को बताने के लिए उन्होंने ''बृहत्तर अमरीका''(पैक्स अमेरिकाना) शब्द का इस्तेमाल किया। आपात्कालीन समिति के परमाणु हथियार विरोधी संदेश की जनता में अच्छी प्रतिक्रिया हुई, लेकिन अन्ततः, यह समूह परमाणु हथियारों के विकास को सेना के नियंत्रण से बाहर रखने और इसे अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण में लाने के अपने उद्देश्य को हासिल नहीं कर सका।

1940 के दशक में आइन्स्टीन का दूसरा प्रमुख सरोकार था अमरीका में गोरी नस्ल का श्रेष्ठताबोध जिसकी अभिव्यक्ति नस्लवादी दुराग्रह, अलगाववाद, गैर कानूनी रूप से हत्याएं और अन्य कई रूपों में होती थीं। युद्ध के दौरान समानता का वायदा करके पूरे देश को युद्ध क्षेत्र और घरेलू मोर्चे दोनों जगहों पर युद्ध के समर्थन में एकजुट कर लिया गया था। लेकिन वास्तव में, नस्लवादी न्याय के बारे में सरकारी आदेश में कुल मिलाकर काफी घालमेल था। अमरीकी सरकार ने एक उचित रोजगार प्रक्रिया समिति (फेयर एम्प्लॉयमेण्ट प्रैक्टिसिज कमेटी) गठित की जिसके बारे में वायदे तो बहुत सारे किये गये थे, परन्तु कार्यस्थल पर होने वाले भेदभाव को रोक पाने की ताकत उसके पास नहीं थी। एक करोड़ दस लाख की संख्या वाली सेना को तो इससे अछूता ही रखा गया था। युद्ध के परिणाम स्वरूप फैली आर्थिक-अव्यवस्था, रोजगारों का उजड़ना और घरों की कमी जैसी तमाम समस्याओं से निपटने के लिए आम तौर पर 'जिमक्रो' (19वीं सदी तक अमरीका के दक्षिण में काले लोगों को अपमानित करने के लिए गोरे बहुरूपियों द्वारा खेले जाने वाले स्वांग का एक निग्रो पात्र, जो आगे चल कर नस्ली भेदभाव का प्रतीक बन गया।) तरीके ही अपनाये गये। लीडबेली के गीत के शब्दों में, ''अगर तू काला है, तो पीछे हट, पीछे हट, पीछे हट।''

न्यूजर्सी का प्रिंसटन शहर, जहाँ आइन्सटीन रह रहे थे (और जहाँ उनका विश्वविद्यालय था) हालाँकि न्यूयार्क से कुछ ही दूरी पर था, लेकिन वह पुराने दक्षिणी राज्यों के संघ में रहा थ। प्रिंसटन में पैदा हुए पॉल राब्सन आपने इस शहर को ''जार्जियाई बागान शहर'' कहा करते थे। अफ्रीकी-अमरीकियों के लिए वहाँ घर, रोजगार जैसी बुनियादी सुविधाओं और विश्वविद्यालय में प्रवेश तक की मनाही आम बात थी (एक जमाने में पृथकतावादी वुडरो विल्सन ने इसका नेतृत्व किया था)। इसका विरोध या अवमानना करने वालों को अक्सर ही पुलिस की हिंसा का सामना करना पड़ता थ। जर्मनी में इसी तरह के दृश्यों के चश्मदीद और लम्बे समय से नस्लवाद विरोधी हर संघर्ष के योद्धा, आइन्सटीन ने ऐसे हर एक अत्याचार के खिलाफ

आवाज बुलन्द की। 1937 में जब दबी कुचली औरत की आवाज–मेरियन एण्डरसन ने प्रिंसटन के एक संगीत समारोह में अपना कार्यक्रम किया, तो दर्शकों ने खूब तालियाँ बजायीं, लेकिन पृथकतावादी 'नसाऊ इन' होटल में उन्हें रुकाने से इन्कार कर दिया गया। समारोह में उपस्थित आइन्सटीन ने तत्काल उन्हें अपने घर पर रुकने के लिए आमंत्रित किया। वह आइन्सटीन के घर पर ही ठहरीं और जब भी वह न्यूजर्सी में गाने आती थीं, तो उन्हीं के यहाँ मेहमान बनती थीं, यहाँ तक कि होटल में भेदभाव खत्म हो जाने के बाद भी वे उनके यहाँ ही रुकती रहीं।

1946 में काले लोगों पर झूठे इल्जाम लगा कर गैर कानूनी रूप से मार डालने की राष्ट्रव्यापी लहर चली तो इसका अन्त करने के लिए छेड़े गये धर्म युद्ध में बराबरी के सहयोगी के तौर पर शामिल होने के लिए पॉल राब्सन ने आइन्सटीन को आमन्त्रित किया। डब्लू॰ ई॰बी॰ डू बोइस और नागरिक स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़े अन्य कई लोग भी इस समूह में शामिल थे। उस समूह ने वाशिगंटन में एक रैली का आयोजन किया जिसमें आइन्सटीन को भी भाषण देना था। बीमारी के कारण वे रैली में तो नहीं शामिल हो सके, लेकिन उन्होंने राष्ट्रपति ट्रूमैन को एक पत्र लिखकर माँग की कि बेगुनाह काले लोगों के हत्यारों पर अभियोग चलाये जाऐं, इन हत्याओं को रोकने के लिए एक संघीय कानून बनाया जाय और मिसीसिपी के नस्लवादी सीनेटर थियोडोर जी॰ बिल्बो को बेदखल कर दिया जाए। यह पत्र राब्सन ने पहुँचाया लेकिन जब उन्होंने ट्रूमैन से कहा कि अगर सरकार कालों की हिफाजत नहीं करती तो यह काम उन्हें खुद ही करना पड़ेगा, तब बातचीत समय से पहले ही समाप्त कर दी गयी। इस घटना के बाद हंगामा खड़ा हो गया, लेकिन आइन्सटीन ने अपने पत्र में राब्सन से सहमति जताई और लिखा, कि जब किसी न्यायसंगत लक्ष्य को पूरा करने की दृढ़ इच्छा शक्ति हो, तो कानूनी बाधाओं से निबटने के लिए हमेशा कोई न कोई रास्ता निकल आता है।'' आइन्सटीन समाजिक न्याय के लिए अपनी ख्याति का इस्तेमाल करने को तो इच्छुक होते थे, परन्तु इस प्रसिद्धी से मिलने वाले सम्मान को वे दृढ़ता पूर्वक अस्वीकार कर देते थे। इसका एक अपवाद भी था। मई 1964 में पेन सिल्वेनिया स्थित काले लोगों की ऐतिहासिक संस्था, लिंकन विश्वविद्यालय के अध्यक्ष हारेस मान बॉण्ड ने उन्हें मानद उपाधि प्रदान की। आइन्सटीन ने इस सम्मान को स्वीकार किया ओर अपना पूरा समय पूर्व स्नातक की कक्षाओं के छात्रों को व्याख्यान देने और शिक्षकों के बच्चों के साथ बातें करने और इनके साथ खेलने में बिताया । तत्कालीन विश्वविद्यालय अध्यक्ष के नौजवान पुत्र,जूलियन बॉण्ड भी उनमें से एक थे जो बाद में नागरिक अधिकार आन्देलन के नेता बने ओर आजकल वे एन॰ ए॰ ए॰सी॰ पी॰ के अध्यक्ष हैं। प्रेस ने इस घटना को नजरन्दाज कर दिया लेकिन अपने भाषण में आइन्सटीन ने कहा, ''अमरीकियों का सामाजिक नजरिया.....मानवीय गरिमा ओर

समानता की उनकी समझ सिर्फ गोरी चमड़ी वालों के लिए ही सीमित है। मैं जितना ज्यादा अपने अमरीकी होने के बारे में सोचता हूँ, हालात मुझे उतनी ही पीड़ा पहुँचाते हैं। इस सहअपराध, इस मनोग्रंथी से मैं तभी मुक्त हो पाऊँगा, जब मैं इसके खिलाफ आवाज बुलन्द करूँ।''

राजनीतिक वचनबद्धता के प्रति वही आवेग आइन्सटीन को नस्ली सम्बन्धों से पैदा हुए घरेलू संकट और साथ ही शीत युद्ध पोषित नाभिकीय खतरे, दोनों के खिलाफ कार्रवाई तक ले गया। इसी के चलते वे नव गठित प्रगतिशील पार्टी के समर्थक बन गये जिसमें राजनीतिक प्रसंग से जुड़े ढ़ेर सारे लोगों के साथ उनके पुराने हमवतन थॉमस मान और उनके अजीज दोस्त और पड़ोसी बेन शान भी शामिल थे जो साको और वानजेटी मुकद्दमें से जुड़ी अपनी तस्वीरों के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। रूजवल्ट के पुराने न्यू डील गठबंधन में शामिल वाम धड़े द्वारा गठित इस पार्टी में उग्र परिवर्तनवादी, समाजवादी और कम्युनिस्ट, सभी शामिल थे और इसका मकसद था–भूतपूर्व उपराष्ट्रपति हेनरी ए॰ वालेस को 1948 में राष्ट्रपति पद तक पहुँचाने की कोशिशों को गति देना। पार्टी द्वारा जिमक्रो की मुखालफत किये जाने की आइन्सटीन खास तौर पर प्रशंसा करते थे और उन्होंने वालेस और तीसरी पार्टी के समर्थक, साथी पॉल राब्सन के साथ फोटो खिंचवाकर पार्टी को प्रतिष्ठा और समर्थन प्रदान किया। वालेस और पॉल राब्सन ने अपने ऊपर हुए हिंसक हमलों की परवाह न करते हुए दक्षिण में अपना प्रचार अभियान जारी रखा और पृथकतावादी श्रोताओं को सम्बोधित करने नस्लभेदी 'जिमक्रो' होटलों में ठहरने से इन्कार कर दिया। आइन्सटीन के समर्थन से वालेस ने नाभिकीय हथियारों को गैर-कानूनी करार देने और उनके ऊपर अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण की माँग उठायी। हालाँकि अन्त में, सोवियत विरोधी उद्धत राष्ट्रवाद और ट्रूमैन द्वारा अन्तिम समय पर न्यू डील जैसे उदार सामाजिक कार्यक्रमों का वायदा करने के मिले-जुले प्रभाव के कारण वालेस आन्दोलन सफल नहीं हो सका। ट्रूमैन के हैरतंगेज पुनः निर्वाचन ने तेजी से बढ़ते शीत युद्ध और उसके साथ-साथ चलने वाले वैचारिक दमन के मार्ग में खड़ी रही-सही बाधाओं को भी हटा दिया।

वालेस के समर्थकों में से कुछ उदारवादी न्यू डील कार्यक्रम से पार्टी के आगे न जा पाने के कारण खीज गये। उनका विचार था कि पार्टी को बुनियादी उद्योगों के सार्वजनिक स्वोमित्व जैसे सवालों पर स्पष्ट तौर पर समाजवादी अवस्थिति लेनी चाहिए थी। इस तरह के विचार रखने वालों में लियो ह्यूबरमैन और पॉल स्वीजी भी थे जिन्होंने समाजवादी और मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से घटनाओं का व्यापक विश्लेषण करने और उन पर टीका टिप्पणी करने के लिए एक मंच के रूप में मंथली रिव्यू पत्रिका की शुरुआत की थी। आइन्सटीन ने इस पत्रिका की नींव डाले जाने का स्वागत किया और मई 1949 में निकलने वाले उसके पहले अंक के लिये लियो ह्यूबरमैन

के दोस्त ऑटो नाथन के आग्रह पर ''समाजवाद क्यों?'' नामक अपना लेख लिखा। आइन्सटीन की ख्याति के साथ-साथ, जिस तरह लेख में तर्क संगत, नैतिक और राजनीतिक तरीके से साफ तौर पर समाजवाद का पक्ष लिया गया था, उसने इस नयी वामपंथी पत्रिका के जन्म की ओर लोगों का ध्यान खीचा। तत्कालीन प्रतिकूल राजनीतिक वातावरण में इस लेख ने निश्चित तौर पर पत्रिका के सम्पादकों की हौसला अफजाई की और उसके वितरण को आवश्यक प्रोत्साहन मिला।

दूसरे विश्वयुद्ध के खत्म होने के बाद आइन्सटीन का ध्यान, नाजी जनसंहार के परिणाम स्वरूप यूरोप के यहूदियों पर आये संकट में भी उलझा रहा। अपने बचपन में यहूदी विरोधवाद से पहला सामना होने के बाद से ही आइन्सटीन ने एक धर्मनिरपेक्ष यहूदी के रूप में अपनी पहचान बनायी थी। तभी से वह इस उग्रराष्ट्रवादी बीमारी पर अपनी पैनी नजर रखने लगे। बीच-बीच में वे इसका शिकार भी बनाये जाते थे लेकिन फिर भी इस पर उनकी प्रतिक्रिया वही होती थी जैसी कि नफरत पर आधारित दूसरे अपराधों के मामले में होती। बहुत पहले, 1921 में जब वे फिलिस्तीन में यहूदी बस्तियाँ बसाने के लिए चन्दा उगाहने अमरीका की पहली यात्रा पर आये थे, तो उन्होंने यूरोप की यहूदी आबादी पर आनेवाली इस महाविपदा से निपटने के उपाय तलाशने की भी कोशिश की थी। पूर्वी और मध्य-यूरोप में यहूदियों पर बढ़ते जा रहे कानूनी और गैर- कानूनी प्रतिबन्धों का उन्होंने विरोध किया, अमरीका में आकर बसने का समर्थन किया (हालाँकि इसमें बहुत सफलता नहीं मिल सकी) और फिलिस्तीन में एक ''यहूदी राष्ट्रीय मातृभूमि'' (उनके और उनके साथियों के शब्दों में) के निर्माण की वकालत की। इसी रूप में उन्हें जियनवादियों के साथ जोड़ा जाता है। हालाँकि यह लेबिल उनके ऊपर ठीक नहीं बैठता, फिर भी उन्होंने कभी सक्रिय तौर पर इससे बचने की कोशिश नहीं की। लेकिन फिर भी, उन्होंने चैम विजमान ओर डेविड बेन गुरियन जैसे मुख्य धारा के जियनवादियों और व्लादिमिर जबोतिन्सकी और मेनाचेम बेगिन जैसे जिनयनवादी उद्धत-राष्ट्रवादीयों और कट्टरपेथियों से अपने को दूर ही रखा। 1930 में आइन्सटीन ने लिखा, ''दमनकारी राष्ट्रवाद को हर हाल में पराजित किया जाना चाहिए.....मेरे विचार से फिलिस्तीन का भविष्य सिर्फ देश के भीतर रहने वाले दोनों समुदयों के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग पर ही आधाारित हो सकता है.....सब कुछ के बावजूद उन्हें जरूर साथ आना चाहिये।'' युद्ध के पहले और बाद में भी वे यहूदी और फिलिस्तीनी, दो राष्ट्रीयताओं वाले एक राज्य के ही हिमायती बने रहे।

1946 में उन लाखों यूरोपवासी यहूदियों के साथ, जो अभी भी ''विस्थापित'' थे और इस शरणार्थी आबादी के एक छोटे हिस्से को भी विजयी संश्रयकारी अपने देश में जगह देने के लिए तैयार नहीं थे, आइन्सटीन फिलिस्तीन के बारे में गठित एक एंग्लो अमरिकन जाँच समिति के सामने हाजिर हुए और एक ''यहूदी मातृभूमि'' की

माँग की। ऐसा प्रतीत होता है कि जियनवादी प्रतिष्ठान ने इरादतन इसका 'यहूदी सम्प्रभुता की माँग के रूप में गलत अर्थ निकाला। अत: अपने दोस्त रब्बी स्टीफन वाइज की मदद से आइन्सटीन को अपनी अवस्थिति स्पष्ट करनी पड़ी। उन्होंने कहा कि फिलिस्तीन जितने लोगों को आर्थिक तौर पर आत्मसात कर सके, उतने यहुदियों को आजादी के साथ वहाँ जाकर बसने की इजाजत होनी चाहिये और बदले में वहाँ एक ऐसी सरकार होनी चाहिए जो यह सुनिश्चित करे कि ''कोई एक समूह, दूसरे समूह के 'अधीन' नहीं होगा''। वाइज की और भी जोरदार वक्तव्य देने की माँग का विरोध करते हुए आइन्सटीन ने जवाब दिया कि ''यहूदी राज्य की माँग पर अड़ने का हमारे लिए सिर्फ अवांछनीय नतीजा होगा''। परिवर्तनकामी पत्रकार आई॰ एफ॰ स्टोन ने ''नृजातीय सीमाओं'' से ऊपर उठकर व्यवहार करने के लिए आइन्सटीन की प्रशंसा की। (बाद में आइन्सटीन स्टोन के साप्ताहिक के खास पाठक बन गये थे)।

फिर भी, बहुत सारे परिवर्तनकामी यहूदियों की तरह जिनमें बहुतेरे समाजवादी और कम्युनिस्ट शामिल थे, जियनवादी परियोजना को लेकर अपने भावनात्मक द्वन्द्व पर विजय पाने में आइन्सटीन को भी कठिनाई हुई। अन्तत: उन्होंने इजरायल की स्थापना का अनुमोदन कर दिया। 1967 के युद्ध के बाद इजरायल द्वारा फिलिस्तीन को गुलाम बना लेने को लेकर कुछ उग्र परिवर्तन वादी विचारकों की परस्पर-विरोधी प्रतिक्रिया को देखते हुए यह अनुमान लगाना मुश्किल है कि आइन्सटीन की उनके बारे में क्या प्रतिक्रिया होती? लेकिन फिलिस्तीन में यहूदियों के आ बसने से वहाँ के मूल निवासियों पर क्या प्रभाव पड़ेंगे, इससे उनका साफ तौर पर सरोकार था। अत:यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वे चार दशकों से इजरायल द्वारा फिलिस्तीन का दमन किये जाने को देखकर दहल गये होते।

आइन्सटीन के जीवन के अन्तिम वर्षों का ज्यादातर समय सदी के मध्य के ''लाल आशंका''के साये में बीता। अन्होंने लिखा कि ''वर्षों पुरानी जर्मन विपत्ति अपने को दोहरा रही थी। 1950 के दशक के शुरुआती वर्षों में, एक तरफ शहर के बाहरी छोर पर बसे आम अमरीकियों की बढ़ती बदहाली और दूसरी ओर कोरिया-युद्ध से फलिभूत बेतहाशा समृद्धि को देख कर आइन्सटीन ने खेद के साथ कहा था, ''अमरीका में ईमानदार लोगों की संख्या बेहद कम है।'' लेकिन वे मुकाबले के लिये तैयार थे और उन्हे बस एक मंच की तलाश थी जो 1953 में न्यूयार्क सिटी स्कूल के एक शिक्षक विलियम फ्रायेनग्लास के पत्र का जवाब देते हुए उन्हे मिल गया। उस शिक्षक को सीनेट की जाँच समिति के सामने अपनी राजनीति और उससे जुड़े लोगों के बारे में खुलासा करने से इन्कार करने पर नौकरी से निकाल दिया गया था। आइन्सटीन ने उस अभिनव शिक्षक विलियम फ्रायेनग्लास को पत्र लिखा, जिसने अपनी अंग्रेजी कक्षाओं के लिए खुद अन्तर-सांस्कृतिक पाठ्यक्रम तैयार किया था,

ताकि पुर्वाग्रहों से ग्रस्त घिसे-पिटे पाठ्यक्रम से छुटकारा पाया जा सके। आइन्सटीन ने उन्हें प्रोत्साहित करते हुए लिखा, कि ''समितियों के सामने बुलाये गये हर बुद्धिजीवी को गवाही देने से इन्कार कर देना होगा। यदि भारी संख्या में लोग यह गम्भीर कदम उठाने को तैयार हो जायें, तो वे सफल होंगे। और यदि नहीं, तो ऐसे बुद्धिजीवी गुलामी के सिवाय और किसी लायक नहीं, वही उनके लिए अभीष्ट है।'' यह पत्र राष्ट्रीय अखबारों के मुखपृष्ठ पर सुर्खियों में छपा और इसके अपेक्षित परिणाम आये। 'लालभूत की खोज' के खिलाफ आन्दोलन जोर पकड़ता गया। आइन्सटीन को सुदूर इलाकों से बर्टेण्ड रसेल जैसे दार्शनिकों का भी समर्थन मिला। जब न्यूयार्क टाइम्स ने आइन्सटीन से असहमति व्यक्त करते हुए सम्पादकीय छापा तो लंदन से उन्होंने न्यूयार्क टाइम्स को लिखा, ''क्या आप ईसाई शहीदों की भर्त्सना करोगे कि उन्होंने राजा के लिए बलि का बकरा होने से इन्कार कर दिया था? क्या आप जॉन ब्राउन की भर्त्सना करते हो?''

फ्रायेनग्लास मामले के कुछ ही समय बाद एक और विरोधी गवाह अल शादो विट्ज ने सीनेटर मेकार्थी के सामने गवाही देने से यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि ''मैं डाक्टर आइन्सटीन से सलाह लेता हूँ।'' मेकार्थी आग बबूला हो उठा। लेकिन अन्तत:, यह संक्रामक बीमारी दोनों पक्षों को सुप्रीम कोर्ट की शरण में ले गयी जिसने 1957 में कम्युनिस्ट विचारधारा के लोगों को शिकार बनाने वालों की कार्रवाइयों पर रोक लगा दी (इनमें से एक केस मंथली रिव्यु के सम्पादक पॉल स्वीजी पर भी चला था)। साथ ही इससे नौजवान नव वामपंथी छात्रों को प्रोत्साहन मिला, जो 1960 से ही अक्सर जाँच समिति की कार्यवाहियों में अड़ंगा डालने के लिए उनपर फब्तियाँ कसते और उनकी खिल्ली उड़ाया करते थे। आइन्सटीन के पत्र के महज दस साल बाद मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने भी आधुनिक नागरिक अधिकार आन्दोलन में जान फूँकने के लिए सविनय अवज्ञा का सहारा लिया।

1954 में जब उनके सहकर्मी और युद्ध काल में मेनहट्टन परियोजना के नेता जे॰ रॉबर्ट ओपेन हाइमर को सुरक्षा निकासी (सीक्यूरिटी क्लीयरेंस)देने से मना कर दिया गया और वैज्ञानिक अन्वेषण की स्वतंत्रता के उल्लंघन के अन्य मामले भी प्रकाश में आये, तो इनकी प्रतिक्रिया में आइन्सटीन ने अपने खास व्यंग्यात्मक लहजे में लिखा कि ''अगर मैं फिर से नौजवान हो जाता, तो मैं वैज्ञानिक, या विद्वान, या शिक्षक बनने की कोशिश नहीं करता, उसकी जगह आजादी की उम्मीद में मैं एक प्लम्बर (पाइप जोड़ने वाला) या फेरीवाला बनना पसंद करता क्योंकि इन पेशों में आज के हालात में भी थोड़ी-सी आजादी बची हुई है।''

आइन्सटीन ने इससे भी कठिन और इससे भी ज्यादा खतरनाक कुछ अन्य राजनीतिक कार्रवाइयों को अन्जाम दिया।

किसी दूसरी घटना ने शायद ही अन्तरराष्ट्रीय समुदाय का इतना अधिक ध्यान

खींचा हो जितना जूलियस और एथेल रोजेनबर्ग के खिलाफ मुकदद्मे में हस्तक्षेप करने का उनका प्रयास। 1953 में आइन्सटीन ने जज इरविंग काफमैन को एक पत्र लिखकर बताया कि मुकदद्मे की कार्यवाही के रिकार्ड से बचाव पक्ष का अपराध साबित नहीं होता और ''इसमें शक की भरपूर गुञ्जाइश है।'' उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि उनके खिलाफ दिये गये वैज्ञानिक प्रमाण, यदि वे सही हैं तो भी, किसी महत्वपूर्ण रहस्य का उद्घाटन नहीं करते। जब उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला तो उन्होंने अपना नजरिया रखते हुए राष्ट्रपति को पत्र लिखा। ट्रूमैन ने भी कोई उत्तर नहीं दिया। तब आइन्सटीन ने अपना पत्र सार्वजनिक करते हुए मीडिया में दे दिया और बाद में न्यूयार्क टाइम्स में एक लेख लिखकर फाँसी की सजा माफ करने की माँग की। यह त्रासद है कि इस मामले में आइन्सटीन की ख्याति कोई काम नहीं आयी। 19 जून को सिंग-सिंग की बिजली का झटका देने वाली कुर्सी मे रोजेनबर्ग दम्पत्ति की मौत हुई।

इसके दो साल पहले 1951 में, जब आइन्सटीन के दोस्त डब्लू ई॰ बी॰ डू बोइस पर उनकी शान्ति समर्थक गतिविधियों के लिए, सोवियत एजेण्ट होने का मनगढ़ंत आरोप लगा कर मुकदमा चलाया गया तो उन्होंने डू बोइस के बचाव हेतु कोष एकत्र करने के लिए रॉब्सन और नागरिक अधिकारों की नायिका मेरी मेकलॉयड बेथ्यून के साथ मिलकर एक रात्रि भोज और एक रैली का आयोजन किया। डू बोइस के वकील भूतपूर्व सांसद और उद्भट उग्र परिवर्तन वादी वक्ता, वीटो मार्केण्टोनियो ने अभियोग पक्ष द्वारा अपना केस वापस लेने के पहले ही मुकदद्मे को एक भीषण रणक्षेत्र में बदल दिया था। अगर यह मुकद्दमा चलता रहता तो मार्केण्टोनियो ने योजना बनायी थी कि वह बचाव के पहले गवाह के तौर पर आइन्सटीन को पेश करेंगे।

''लाल आशंका'' के दिनों में जिस व्याक्ति को शायद सबसे ज्यादा सताया गया या अलगाव में डाला गया, वे थे– कालों की अवैध हत्याओं के खिलाफ आन्दोलनरत, आइन्सटीन के महान सहयोद्धा पॉल राब्सन! गोरी चमड़ी की श्रेष्ठता के खिलाफ जुझारू संघर्ष चलाने के चलते उनके ऊपर जितने हमले हुए, उतने ही उनके उग्र पहरवर्तनवादी होने और पूरे अफ्रीका की आजादी की माँग रखने के कारण भी हुए। अपने ही देश में, वास्तविक अर्थों में, रॉब्सन के वजूद को नकार दिया गया–उनको रोजी-रोजगार करने, संगीत समारोह के लिये जगह देने और यात्रा करने तक से मना कर दिया गया। 1952 में रॉब्सन के इर्द-गिर्द पड़े चुप्पी के पर्दों को फाड़ डालने के लिए आइन्सटीन ने उन्हें और उनका साथ देने वाले कलाकार लॉयड ब्राउन को दोपहर के भोजन के लिए आमन्त्रित किया। खाने के बाद तीनों लोग विज्ञान, संगीत और राजनीति जैसे आपसी रुचि के सभी विषयों पर काफी देर तक बाते करते रहे। एक समय, जब रॉब्सन कमरे से बाहर थे, तब ब्राउन ने कहा कि ऐसे महान आदमी के साथ होना कितने सम्मान की बात है। आइन्सटीन का उत्तर था, ''लेकिन इस महान

आदमी को यहाँ लाने वाले तो आप ही हैं।''

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में आइन्सटीन निजी और सार्वजनिक स्तर पर प्रतिरोध की कार्रवाइयों में लगे रहे। अभी उनकी जान-पहचान और प्रभाव का एक अच्छा-खासा दायरा था जिसके जरिये वे उन लोगों के लिए काम खोजा करते थे जिन्हें फ्रायेनग्लास और दूसरे लोगों की तरह जाँच कमेटियों के साथ सहयोग न करने के चलते नौकरियों से निकाल दिया जाता था। 1954 में उन्होंने 'आपात् कालीन नागरिक स्वतंत्रता समिति' को अपने 75वें जन्म दिवस पर नागरिक स्वतंत्रता के दमन के खिलाफ संघर्षों के बारे में एक सम्मेलन आयोजित करने की इजाजत दे दी। कम्युनिस्टों का बचाव करने और रोजेनबर्ग मामले द्वारा उठाये गये नागरिक स्वतंत्रता के सवालों को कार्यसूची पर लाने में अमरीकी नागरिक स्वतंत्रता संगठनों के असफल रहने की प्रतिक्रिया स्वरूप यह समिति गठित की गयी थी। इस सम्मेलन के वक्ताओं में आई॰ एफ॰ स्टोन, खगोलशास्त्री और कार्यकर्ता हार्लो शापले, समाजशास्त्री ई॰ फ्रेंकलिन फ्रेजर और हेनरी प्रेट फेयरचाइल्ड, तथा राजनीति विज्ञान के एच॰ एच॰ विल्सन जैसे लोग शामिल थे। सम्मेलन के बाद समिति अभिव्यक्ति की आजादी की हिफाजत, मजदूरों के अधिकारें के लिए संघर्ष और नागरिक अधिकारों के लिए बहुविध अभियानों के रास्ते पर 46 सालों तक चलती रही।

यह जानना कठिन है कि आइन्सटीन की राजनीति के इस संक्षिप्त और निश्चय ही, आधे-अधूरे सारांश का अंत कैसे किया जाय। उदाहरण के लिये, एक खास तरह की वैश्विक व्यवस्था और शान्तिवाद के साथ आइन्सटीन की जीवनपर्यन्त प्रतिबद्धता पर कोई चर्चा नहीं की गयी है और न ही अपने भौतिकशास्त्री और मार्क्सवादी मित्र लियोपोल्ड के साथ उनके लम्बे जुड़ाव का ही जिक्र किया गया है। दूसरे बहुत से वामपंथी वैज्ञानिकों की तरह आइन्सटीन भी जनसाधारण को वैज्ञानिक शिक्षा देने के प्रति गहरी प्रतिबद्धता रखते थे, ताकि रूढ़िवाद और रहस्यवादी छद्म-विज्ञानके खिलाफ एक औजार के रूप में इसका इस्तेमाल किया जा सके। आजकल की तरह ही, उस जमाने में भी राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रियावादी ताकतों को बढ़ावा देने के लिए रूढ़िवाद और रहस्यवाद का भरपूर इस्तेमाल किया जाता था।

18 अप्रैल, 1955 को अपनी मृत्यु से कुछ ही दिनों पहले आइन्सटीन ने एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किया था जो आइन्सटीन-रसेल घोषणापत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्री और दार्शनिक गणितज्ञ बर्ट्रेण्ड रसेल शान्तिवाद के अस्पष्ट नैतिक तर्कों से आगे जाते हैं। उसकी जगह वे राजनीतिक विकल्प प्रस्तुत करते हैं, ''यदि हम चुनें तो हमारे सामने आनन्द, ज्ञान और बुद्धिमत्ता में निरन्तर प्रगति की सम्भावनाएँ मौजूद हैं। क्या हम उनकी जगह मौत को चुन लें, क्योंकि हम अपने बीच के झगड़ों को नहीं भूल सकते? एक इन्सान होने के नाते हम सभी इन्सानों से

अपील करते हैं–अपने भीतर की इन्सानियत को याद रखो और बाकी सबकुछ भुला दो। यदि तुम ऐसा कर सके तो एक नये स्वर्ग का रास्ता तुम्हारे लिए खुला पड़ा है। अगर तुम ऐसा नहीं कर सके तो विश्वव्यापी मौत का खतरा तम्हारे सामने है।''

अपने छात्र जीवन से लेकर अपनी अन्तिम साँस तक आइन्सटीन एक उग्र परिवर्तनवादी बने रहे। अपने समय के राजनीतिक घटनाक्रम और अपने विश्व दृष्टिकोण के बारे में चिन्तन करते हुए उन्होंने अपने एक दोस्त से कभी कहा था कि वे आजीवन ''क्रान्तिकारी'' बने रहे और अभी भी एक ''आग उगलने वाला विसूवियस ज्वालामुखी'' हैं।

समाजवाद ही क्यों?

–अलबर्ट आइन्सटीन

क्या ऐसे व्यक्ति का समाजवाद के बारे में विचार करना उचित है जो आर्थिक-सामाजिक मामलों का विशेषज्ञ नहीं है? कई कारणों से मेरा विश्वास है कि यह उचित है।

सबसे पहले वैज्ञानिक ज्ञान के दृष्टिकोण से इस सवाल पर विचार करें। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि खगोल विज्ञान और अर्थशास्त्र में कार्य-पद्धति का कोई मूलभूत फर्क नहीं है; दोनों ही क्षेत्रों में वैज्ञानिक किन्हीं परिघटनाओं के अन्तरसंबंधों को यथासंभव स्पष्ट ढंग से समझने लायक बनाने के लिए उन परिघटनाओं के एक सीमित समूह के लिए सामान्य तौर पर स्वीकार्य नियमों को ढूँढन का प्रयास करते हैं। लेकिन वास्तव में, इन दोनों विज्ञानों के बीच कार्य-पद्धति का फर्क मौजूद है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सामान्य नियमों की खोज इस बात से कठिन हो जाती है कि जिन आर्थिक परिघटनाओं का हम निरीक्षण करते हैं उन्हें बहुत-सी ऐसी बातें प्रभावित करती हैं जिनका मूल्यांकन अलग से कर पाना कठिन होता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि सभी जानते हैं, मानव इतिहास के तथाकथित सभ्यकाल के शुरू से ही संचित अनुभव ऐसे कारणों से बहुत ज्यादा प्रभावित और सीमित होते रहे हैं जो स्वभावत: किसी भी तरह महज आर्थिक नहीं होते। उदाहरण के लिए, इतिहास में अधिकतर बड़े राज्यों का अस्तित्व अन्य देशों को जीतने पर आधारित रहा है। विजेता लोगों ने कानूनी और आर्थिक तौर पर अपने को विजित देश के विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के रूप में स्थापित किया। उन्होंने जमीन की मिल्कियत में अपना एकाधिकार कायम किया और अपने ही बीच के लोगों में से पुरोहित नियुक्त किये। शिक्षा पर नियन्त्रण रखने वाले पुरोहितों ने समाज के वर्ग- विभाजन को एक स्थायी संस्था का रूप दिया और मूल्यों के एक ढाँचे की रचना की, जिससे उसी समय से लोग काफी हद तक अचेतन रूप से अपने सामाजिक व्यवहार में निर्देशित होते थे।

थोर्स्टीन बेव्लेन द्वारा बताई गई मानव विकास की 'लूटपाट की अवस्था', कहने को तो बीते दिनों की ऐतिहासिक परम्परा है किंतु हम आज भी इससे आगे नहीं बढ़

सके हैं। जिन आर्थिक तथ्यों का हम निरीक्षण कर सकते हैं वे इसी अवस्था के हैं इसलिए उनसे निकाले गये नियम भी दूसरी अवस्थाओं पर लागू नहीं होते। चूंकि समाजवाद का वास्तविक लक्ष्य सुनिश्चित तौर पर मानव विकास को, इस लूट-पाट की अवस्था को पार करना और उससे आगे बढ़ाना है, इसलिए अपनी मौजूदा स्थिति में आर्थिक विज्ञान भविष्य के समाजवादी समाज पर थोड़ा ही प्रकाश डाल सकता है।

दूसरे, समाजवाद का एक निश्चित सामाजिक और नैतिक लक्ष्य है। विज्ञान न तो लक्ष्यों का निर्माण कर सकता है और न ही उनको इन्सान के अन्दर उतार सकता है। विज्ञान, ज्यादा से ज्यादा, किन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधन जुटा सकता है लेकिन खुद ये लक्ष्य उदात्त नैतिक आदर्शों वाले व्यक्तित्वों द्वारा ही तय किये जाते हैं और यदि ये लक्ष्य मुर्दा न होकर जीवन्त और ओजस्वी हैं तो उन बहुत सारे लोगों द्वारा अपनाये और आगे बढ़ाये जाते हैं जो आधे अचेतन रूप से समाज के मन्थर विकास को निर्धारित करते हैं।

इन कारणों से, मानवीय समस्याओं के प्रश्न पर हमें विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धतियों को आवश्यकता से अधिक करके नहीं आँकना चाहिए और यह भी नहीं मानना चाहिए कि समाज के संगठन को प्रभावित करने वाले प्रश्नों पर अभिव्यक्ति का अधिकार केवल विशेषज्ञों का ही है।

अनगिनत लोग इधर कुछ समय से इस बात पर जोर देते रहे हैं कि मानव समाज एक संकट के दौर से गुजर रहा है और इसकी स्थिरता भयंकर रूप से छिन्न-भिन्न हो गई है। यह एक ऐसी स्थिति का लक्षण है, जब लोग उस छोटे या बड़े समूह के प्रति असंपृक्तता या यहाँ तक कि शत्रुतापूर्ण भाव महसूस करने लगते हैं, जिसमें वे रहते हैं। अपनी बात साफ करने के लिए एक निजी अनुभव बताऊँ। हाल ही में मैंने एक प्रबुद्ध सज्जन से एक और युद्ध के खतरे के बारे में बातचीत की जो मेरे विचार से मानवता के अस्तित्व के लिए गंभीर संकट पैदा कर देगा और मैंने कहा कि उस संकट से केवल एक राष्ट्रोपरि या अधिराष्ट्रीय (सुप्रानेशनल) संगठन ही रक्षा कर सकता है। इस पर मेरे अतिथि ने बहुत शांत और ठन्डे ढंग से कहा, आप मानव जाति के मिट जाने का इतनी गंभीरता से क्यों विरोध करते हैं?

मुझे यकीन है कि कम से कम एक शताब्दी पहले किसी ने भी इतने हल्के ढंग से इस किस्म का बयान नहीं दिया होता। यह एक ऐसे आदमी का बयान है जो अपने भीतर सामंजस्य कायम करने के निरर्थक प्रयास करता रहा है और काफी हद तक इसमें सफल होने की उम्मीद खो चुका है। यह एक ऐसे दर्दनाक एकाकीपन और अलगाव की अभिव्यक्ति है जिससे आजकल बहुत से लोग पीड़ित हैं। इसका कारण क्या है? क्या कोई समाधान भी है?

सवाल खड़े करना आसान है मगर किसी भी हद तक भरोसेमन्द जवाब

देना कठिन है। फिर भी जहाँ तक हो सकेगा, मैं प्रयास अवश्य करूँगा, हालाँकि इस तथ्य के प्रति मैं काफी सचेत हूँ कि हमारी अनुभूतियाँ और हमारे प्रयास अक्सर इतने अन्तर्विरोधी और दुर्बोध होते हैं कि सीधे-सीधे सूत्रों में व्यक्त नहीं किए जा सकते।

मनुष्य एक ही समय में और एक ही साथ एकाकी प्राणी भी होता है और सामाजिक प्राणी भी। एक एकाकी प्राणी की हैसियत से वह खुद अपने और अपने सबसे ज्यादा करीबी लोगों के अस्तित्व की रक्षा का प्रयास करता है और अपनी निजी इच्छाओं की तृप्ति का प्रयास करता है और अपनी सहज योग्यताओं के विकास का प्रयास करता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह संगी-साथियों का स्नेह और सम्मान पाना चाहता है, उनकी खुशियों का भागीदार होना चाहता है, उनके दुखों में दिलासा देना और उनकी जिन्दगी को बेहतर बनाना चाहता है।

किसी मनुष्य के विशिष्ट चरित्र के पीछे केवल इन विविध व बहुधा परस्पर-विरोधी प्रयासों का ही अस्तित्व है और इनका विशिष्ट संयोजन ही उस हद को भी तय करता है जिस हद तक कोई मनुष्य आन्तरिक संतुलन पा सकता है तथा समाज के हित में योगदान कर सकता है। यह बिल्कुल संभव है कि इन दोनों प्रवृत्तियों की सापेक्षिक शक्ति का निर्धारण मुख्यत: वंशानुक्रम द्वारा होता है। किंतु अंतिम रूप से जो व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है उसका निर्धारण मुख्य तौर पर उस समाज के ढ़ाँचे द्वारा जिसमें वह पलता-बढ़ता है, उस समाज की परम्पराओं द्वारा और खास व्यवहारों के प्रति उस समाज के मूल्यांकन द्वारा होता है। किसी भी व्यक्ति के लिए 'समाज' की धारणा का अर्थ अपने समकालीनों और पिछली पीढ़ियों के सभी लोगों के साथ उसके प्रत्यक्ष-परोक्ष संबंधों का कुल योग होता है। व्यक्ति सोचने, महसूस करने, प्रयास करने और कार्य करने में खुद सक्षम है, किंतु वह अपने शारीरिक, बौद्धिक और भावनात्मक अस्तित्व के लिए समाज पर इतना अधिक निर्भर है कि समाज के दायरे के बाहर उसके विषय में विचार करना या उसे समझ पाना असंभव है। यह 'समाज' ही है जो आदमी को भोजन, वस्त्र, आवास, काम के औजार, भाषा, विचारों के रूप और उनकी अधिकांश अन्तर्वस्तु देता है, उसका जीवन उन लाखों-लाख वर्तमान और विगत लोगों के श्रम और कौशल के ही कारण संभव है, जो सब के सब इस छोटे से शब्द, 'समाज' के पीछे छिपे हुए हैं।

इसलिए, यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की समाज पर निर्भरता प्रकृति का एक ऐसा तथ्य है जिसे समाप्त नहीं किया जा सकता, ठीक उसी तरह जैसे कि चीटियों और मक्खियों के मामले में है। लेकिन जहाँ चीटियों व मक्खियों की पूरी जीवन-प्रक्रिया की छोटी से छोटी बात भी सारत: वंशानुगत प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित होती है, वहीं मनुष्य की सामाजिक बनावट और अतंर्सम्बन्ध बदले जा सकते हैं तथा बदलाव के

प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं। स्मृति, नये संयोजनों के निर्माण की क्षमता व मौखिक संवाद के गुण द्वारा मनुष्य में वे विकास सम्भव हो सके हैं जो जैविक आवश्यकताओं द्वारा निर्दिष्ट नहीं होते। ऐसा विकास परम्पराओं, संस्थाओं व संगठनों में, साहित्य में, वैज्ञानिक व अभियांत्रिक उपलब्धियों में, कलाकृतियों में खुद को अभिव्यक्त करता है। इससे स्पष्ट होता है कि आदमी कैसे एक निश्चित अर्थ में अपने जीवन को खुद अपने व्यवहार से प्रभावित कर सकता है और कैसे इस प्रक्रिया में सचेत चिंतन और जरूरत एक भूमिका अदा कर सकते हैं।

आदमी जन्म से ही आनुवांशिकता द्वारा उन स्वभावगत आवेगों सहित जो मानव जाति की लाक्षणिक विशेषताएँ हैं, एक जैविक संरचना पाता है, जिसे हमें स्थिर व अपरिवर्तनीय मानना चहिए। इसके साथ ही, अपने जीवन काल के दौरान वह एक सांस्कृतिक संरचना पाता है जिसे वह संवादों और बहुत से दूसरे प्रकार के प्रभावों के जरिए समाज से ग्रहण करता है। यह सांस्कृतिक संरचना ही वह चीज है जो समय के साथ-साथ बदलती रहती है तथा व्यक्ति और समाज के बीच के संबंधों को बहुत ज्यादा हद तक तय करती है। तथाकथित आदिम संस्कृति की तुलनात्मक खोज द्वारा आधुनिक नृतत्वशास्त्र हमें बताता है कि मनुष्यों के सामाजिक व्यवहार में काफी अन्तर हो सकता है जो समाज में प्रचलित सांस्कृतिक बनावट और समाज में प्रभावी संगठन के स्वरूप पर निर्भर है। किसी मानव समुदाय की उन्नति के लिए प्रयासरत लोग अपनी आशाएँ इसी पर आधारित कर सकते हैं; अपनी जैविक संरचना के कारण, एक दूसरे का विनाश करने के लिए या किसी क्रूर व आत्मघाती स्थिति की दया पर बने रहने के लिए मानव जाति अभिशप्त नहीं है।

यदि हम खुद से सवाल करें कि मानव जीवन को यथासंभव संतोषजनक बनाने के लिए समाज की संरचना तथा व्यक्ति का सांस्कृतिक दृष्टिकोण कैसे बदला जाय, तो इस तथ्य के बारे में हमें सतत् सचेत रहना होगा कि कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ हैं जिन्हें बदल पाने में हम असमर्थ हैं। जैसा पहले ही बताया जा चुका है कि व्यावहारिक अर्थों में मनुष्य की जैविक प्रकृति परिवर्तनशील नहीं है। और भी, पिछली शताब्दियों के तकनीकी व जनसांख्यिकीय विकास द्वारा निर्मित परिस्थितियाँ भी बनी रहने वाली हैं। अपेक्षतया घनी आबादियों के अस्तित्व की खातिर अपरिहार्य सामग्री की आपूर्ति के लिए एक चरम श्रम-विभाजन तथा अत्यन्त केन्द्रित उत्पादन तंत्र परम आवश्यक है। अतीत की ओर देखने पर वह समय, जो इतना रमणीय लगता था, जबकि व्यक्ति या सापेक्षतया छोटे समूह पूरी तरह आत्मनिर्भर रह सकते थे, सदा के लिए जा चुका है। यह कहना बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि मानव जाति ने अभी ही उत्पादन व उपभोग के एक विश्वव्यापी समुदाय की रचना कर ली है।

अब मैं उस बिन्दु पर पहुँच गया हूँ जहाँ से मैं आज के संकट के सारतत्व की

ओर थोड़े में इंगित कर सकता हूँ। यह व्यक्ति के समाज के साथ संबंध से ताल्लुक रखता है। आज इंसान समाज के ऊपर अपनी निर्भरता के प्रति हमेशा से अधिक सचेत हो गया है। किन्तु वह इस निर्भरता को एक सकारात्मक गुण के रूप में, एक जीवंत बंधन के रूप में, एक रक्षक शक्ति के रूप में महसूस नहीं करता है। बल्कि इसे अपने प्राकृतिक अधिकारों, यहाँ तक कि अपने आर्थिक अस्तित्व के लिए भी खतरे के रूप में महसूस करता है। इसके अतिरिक्त, समाज में उसकी स्थिति ऐसी है कि उसकी (मानसिक) संरचना में निहित स्वार्थी प्रवृत्तियाँ निरन्तर प्रबल होती जा रही हैं। जबकि उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों का, जो स्वभाव से ही कमजोर हैं, क्षरण तेज गति से हो रहा है। सभी लोग चाहे समाज में उनका जो स्थान हो, क्षरण की इस प्रक्रिया के शिकार हैं। अनजाने ही अपने स्वार्थों के कैदी बने हुए हैं, वे स्वयं को अरक्षित, एकाकी तथा जीवन के सहज सरल व निष्कपट आनन्द से वंचित महसूस कर रहे हैं। आदमी की जिन्दगी छोटी और जोखिम भरी है। इसी जीवन में खुद को समाज के प्रति समर्पित करके ही वह सार्थकता पा सकता है।

मेरे ख्याल से बुराई का असली स्रोत वर्तमान पूँजीवादी समाज की वह आर्थिक अराजकता है, जो आज मौजूद है। हमारे सामने विशाल उत्पादक समुदाय है जिसके सदस्य एक दूसरे को सामूहिक श्रम के फल से वंचित करने के लिए कोशिश कर रहे हैं। ऐसा वे बल प्रयोग द्वारा नहीं बल्कि कुल मिलाकर कानूनी रूप से कायम नियमों का ईमानदारी से पालन करके ही करते हैं। इस संदर्भ में यह अनुभव करना महत्वपूर्ण है कि उत्पादन के साधन, अर्थात् समस्त उत्पादक क्षमता जो उपभोक्ता सामग्री के साथ-साथ पूँजीगत सामग्री पैदा करने के लिए आवश्यक है, कानूनी तौर पर व्यक्तियों की निजी संपत्ति हो सकते हैं ओर अधिकतर हैं भी।

आगे की बहस में सरलता की दृष्टि से मैं उन सभी लोगों को मजदूर कहूँगा जिनका उत्पादन के साधनों के मालिकाने में कोई हिस्सा नहीं है। हालाँकि यह इस शब्द के परंपरागत प्रयोग के पूरी तरह अनुरूप नहीं है। उत्पादन के साधनों का मालिक मजूदर की श्रमशक्ति को खरीद सकने की स्थिति में होता है। उत्पादन के साधनों का प्रयोग करके मजदूर नयी चीजें बनाता है जो पूँजीपति की संपत्ति बन जाती है। इस पूरी प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु मजदूर द्वारा किये गए वास्तविक उत्पादन और उसे मिले वास्तविक मेहनताने के बीच का सम्बन्ध है। श्रम अनुबंध की 'स्वतंत्रता' के कारण मजदूर जो पाता है, वह उसके द्वारा उत्पादित सामग्री के वास्तविक मूल्य से निर्धारित न होकर उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं से और काम की तलाश में होड़ में लगे मजदूरों की संख्या के अनुपात में पूँजीपति को श्रम-शक्ति की जरूरत से निध र्रित होता है। यह जानना महत्वपूर्ण है कि सैद्धान्तिक रूप से भी मजदूर का वेतन उसके द्वारा किए गए उत्पादन के मूल्य द्वारा निर्धारित नहीं होता।

अंशत: पूँजीपतियों की आपसी होड़ के कारण और अंशत: तकनीकी विकास के कारण निजी पूँजी कुछ हाथों में केन्द्रित होती जाती है और बढ़ता हुआ श्रम-विभाजन उत्पादन की लघुतर इकाईयों की कीमत पर वृहतर इकाईयों के निर्माण को प्रोत्साहित करता है। इस विकास का ही परिणाम निजी पूँजी का एक गुटतंत्र (ऑलीगार्की) है; जिसकी अपार शक्ति को जनतांत्रिक ढंग से संगठित एक राजनीतिक समाज द्वारा भी प्रभावी ढंग से नियंत्रित नहीं किया जा सकता। यह एक सच्चाई है क्योंकि विधायिका संस्थाओं के सदस्यों का चुनाव राजनीतिक दलों द्वारा होता है, जो पूँजीपतियों से आर्थिक सहायत प्राप्त करते हैं या दूसरे तरीकों से उनके प्रभावों में रहते हैं। ये पूँजीपति व्यावहारिक तौर पर हर तरीके से निर्वाचकों को विधायिका से अलग कर देते हैं। नतीजा यह होता है कि जनता के प्रतिनिधि आबादी के दलित-शोषित तबकों के हितों की वस्तुत: पर्याप्त रक्षा नहीं करते। इसके अतिरिक्त, वर्तमान परिस्थितियों में निजी पूँजीपति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सूचना के प्रमुख स्रोतों (प्रेस, रेडियो शिक्षा) पर अनिवार्यत: अपने नियंत्रण रखते हैं। इस प्रकार किसी नागरिक के लिए वस्तुगत निष्कर्षों तक पहुँच सकना या अपने राजनीतिक अधिकारों का सटीक प्रयोग कर पाना अत्यन्त कठिन होता है और वास्तव में अधिकांश मामलों में तो एकदम असंभव होता है।

इस प्रकार, सम्पत्ति के निजी मालिकाने पर आधारित अर्थव्यवस्था में मौजूदा स्थिति को दो मुख्य सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट किया जाता है; पहला, उत्पादन के साधनों (पूँजी)पर निजी मालिकाना होता है और मालिक जैसे भी समझे उसका इस्तेमाल कर सकते हैं। दूसरा, श्रम अनुबंध स्वतंत्र होता है। वास्तव में, इस अर्थ में एक शुद्ध पूँजीवादी समाज जैसी कोई चीज नहीं होती। विशेष तौर पर उल्लेखनीय है कि मजदूर लम्बे और तीखे राजनीतिक संघर्षों द्वारा 'स्वतंत्र श्रम समझौते' का किन्चित सुधारा हुआ रूप, कुछ तरह के मजदूरों के लिए पा सकने में सफल हुए हैं, किंतु समग्रता में आज की अर्थव्यवस्था 'शुद्ध' पूँजीवाद से बहुत भिन्न नहीं है।

उत्पादन मुनाफे के लिए किया जाता है न कि उपयोग के लिए। ऐसा कोई प्रावधान नहीं है कि सक्षम और काम के इच्छुक सभी लोग हमेशा काम पा सकने की हालत में रहें, 'बेकारों की फौज' लगभग हमेशा मौजूद रहती है। मजदूर हरदम काम छिन जाने के भय से ग्रस्त रहता है। चूँकि बेकार और बहुत कम वेतन पाने वाले मजदूर एक लाभदायक बाजार नहीं बनाते, इसी से उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन सीमित रहता है, जिसका परिणाम होता है, भंयकर कठिनाई। तकनीकी प्रगति सबके काम का बोझ घटाने के बजाय लगातार और अधिक बेकारी पैदा करती है। पूँजीपतियों के बीच की होड़ के साथ जुड़ा मुनाफे का मकसद ही पूँजी के संचय और उपयोग में अस्थिरता के लिए जिम्मेदार है। यह समाज को उत्तरोत्तर गहन महामंदी की ओर

ले जाता है। यह असीमित होड़ श्रम की बड़े पैमाने पर बर्बादी को पैदा करती है और साथ ही व्यक्तियों की सामाजिक चेतना को पंगु बनाती है जिसका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ।

व्यक्तियों के इस प्रकार पंगु बनाए जाने को मैं पूँजीवाद का सबसे बड़ा अभिशाप मानता हूँ। हमारा सारा शैक्षणिक ढाँचा इस अभिशाप से ग्रस्त है। विद्यार्थी के मन में एक अतिरंजित प्रतियोगी दृष्टिकोण बैठाया जाता है तथा उसे आगामी कैरियर के लिए तैयारी के रूप में धनपिपासु (लोभी)सफलता की पूजा करना सिखाया जाता है।

मैं इस बात से सहमत हूँ कि इन विकट बुराइयों को समाप्त करने का केवल एक ही रास्ता है, केवल एक समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना द्वारा ही ऐसा किया जा सकता है, जिसके साथ-साथ सामाजिक लक्ष्यों से युक्त एक शिक्षा व्यवस्था भी हो। ऐसी अर्थ-वयवस्था में उत्पादन के साधनों पर स्वयं समाज का स्वामित्व होता है और उनका उपयोग नियोजित ढंग से होता है। नियोजित अर्थव्यवस्था समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन को समायोजित करती है, काम करने में सक्षम लोगों के बीच किये जाने वाले काम को बाँट देती है तथा प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बच्चे को आजीविका की गारण्टी देती है। ऐसे समाज में शिक्षा, व्यक्ति की सहज क्षमता का विकास करने के साथ ही हमारे वर्तमान समाज की सत्ता और सफलता का गुणगान करने की जगह उसके अन्दर अपने जैसे लोगों के प्रति एक जिम्मेदारी की भवना को विकसित करने का प्रयास करेगी।

फिर भी, इसे याद रखना जरूरी है कि एक नियोजित अर्थव्यवस्था ही समाजवाद नहीं होती है। एक नियोजित अर्थव्यवस्था में व्यक्ति पूरी तौर पर गुलाम हो सकता है। समाजवाद की स्थापना कुछ अत्यन्त कठिन सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं के समाधान की मांग करती है; राजनैतिक और आर्थिक शक्ति के व्यापक केन्द्रीयकरण को ध्यान में रखते हुए नौकरशाही को सर्वशक्ति- सम्पन्न व उद्धत होने से कैसे रोका जा सकता है? व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा कैसे हो सकती है और इसके साथ ही नौकरशाही की ताकत को निष्प्रभावी बनाने वाली जनतांत्रिक शक्ति को सुनिश्चित तौर पर कैसे स्थापित किया जा सकता है?

हम संक्रमण के युग से गुजर रहे हैं। समाजवाद के लक्ष्य और समस्याओं के प्रति स्पष्टता इस दौर में सबसे ज्यादा अहमियत रखती है। मौजूदा हालात में इन समस्याओं पर स्वतंत्र और बेरोक-टोक बहस-मुबाहिसे पर सख्त वर्जनाएँ लागू हैं। इसलिए इस पत्रिका की शुरुआत मेरे विचार में एक अहम जन सेवा है।

पुनर्मुद्रण : जनवरी 2017
प्रथम संस्करण : सितम्बर, 2005

गार्गी प्रकाशन
1/4649/45बी, गली न0 -4,
न्यू मॉडर्न शाहदरा, दिल्ली-110032
e-mail: gargiprakashan15@gmail.com

मुद्रकः
प्रोग्रेसिव प्रिन्टर्स,
ए-21 झिलमिल इण्डस्ट्रियल एरिया,
शाहदरा, दिल्ली-110095

मूल्य : 10 रुपये

गार्गी प्रकाशन